कोई ऐसी कहानी

जयशंकर

कोई ऐसी कहानी

आठ बरसों से कोई मुकम्मिल कहानी लिखने का प्रयत्न करता रहा था, पर ज्यादातर नाकामी ही हाथ लगी। नाकामी भी मिली और सिर्फ लिखने का सुख भी नहीं मिला पाया। मेरी कुछ कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपीं भी। एक-दो कहानियों पर मुझे पाठकों के पत्र भी मिले लेकिन यह सब मुझे नाकाफी जान पड़ा, मतलब का नहीं जान पड़ा। एकाध साल बीत रहा होगा जब से मैंने कहानी तो क्या, एकाध पैराग्राफ भी नहीं लिखा है। न लिखने का न मेरे साथ कोई पछतावा है और न ही कोई पीड़ा। मैं बिना

लिखे हुए भी अच्छी तरह रह सकता हूँ... आज अपना एक पैर खो चुकी, ऑपरेशन के बाद रोगशैया पर पिछले तीन महीनों से पड़ी हुई माँ ने पूछा...

'क्या आजकल कहानी नहीं लिख रहा है?'

'तुम्हें याद है...' मैं चौंक गया।

'तेरी एक कहानी को रेडियो पर सुना था।'

'बहुत दिन हो गए... एक बूढ़े बंगाली स्टेशन मास्टर के बारे में थी।'

'तुमने कभी नहीं बताया।'

'वह कहानी बहुत कमजोर थी।'

'अब मैं नहीं लिख रहा हूँ।'

'पर लिखते-लिखते ही तुम अच्छा लिख सकोगे।'

'मुझमें यह बात नहीं है... लिख पाना एकदम दूसरी चीज है...'

इतने में इंजेक्शन देने के लिए नर्स आ गई थी। बात आगे न बढ़ सकी। मैं सीढ़ियों से नीचे अपने कमरे में लौट आया। यही वह कमरा था, यही वह छोटी-सी डेस्क और कुर्सी, जिस पर बैठकर मैंने कुछ कहानियाँ, कुछ कच्ची, आधी-अधूरी, अधपकी कहानियाँ लिखी थी। कभी सोचा करता था कि एक दिन आएगा, जब मैं भी अपनी माँ की तरह कुछ ऐसी कहानियाँ लिखूँगा, जिन्हें लोग पढ़ेंगे, पसंद करेंगे। ऐसा न हो सका। अपनी आखिरी कहानी मैंने उन दिनों में लिखी थी जब मेरे बड़े भाई पत्नी से अलग होकर, एक दूसरी औरत के साथ, एक दूसरे शहर में अपना जीवन शुरू कर रहे थे और मेरी भाभी और मेरी भतीजी इस घर को छोड़ रहे थे। वे हमारे कठिन दिन रहे। माँ रिटायर हो चुकी थीं और उस घटना ने उन्हें कमजोर किया था। माँ चाहती थीं कि उनकी बहू और नातिन इसी घर में बनी रहे पर न वह मानी और न उनका लड़का ही तैयार हुआ। माँ को उस पर भरोसा था। उनका भरोसा टूट गया।

उन दिनों में ही माँ ने अपना उपन्यास लिखना शुरू किया और ऊपर बरसाती में ही रहने लगी। उनका उपन्यास तो अधूरा ही रह गया। लेकिन एक शाम छत के पौधों पर पानी डालते-डालते वे गिर पड़ीं और उनके कूल्हे की हड्डी टूट गई। फिर अस्पताल, ऑपरेशन, दवाइयों, इंजेक्शनों और नर्स का एक सिलसिला-सा शुरू हो गया और मैं

अपनी रिसर्च पर भी ज्यादा ध्यान नहीं दे पाया। माँ मुश्किल से ही किसी की मदद स्वीकार करती रही थी। इससे नर्स भी दुविधा में रहती और मेरी भी उलझनें बढ़ जाती। कुछ दिनों तक पेशाब के लिए नली लगाई गई और यह माँ को अच्छा नहीं लगा। इससे वह चिड़चिड़ा जाती। नर्स बहुत ज्यादा बोलती रहती और माँ को किसी का भी इतना ज्यादा बोला जाना अखरता था। ऐसे में मेरा घर में ही बने रहना जरूरी हो गया।

माँ को तैयार करने के बाद, नर्स ने अनार का रस निकाला और उसे गिलास में रखकर चली गई। मैने अपनी कहानी पर आधी-अधूरी रह गई बात को दुबारा पकड़ना चाहा और पाया कि माँ वह बात ही भूल गईं। इधर वह बहुत ज्यादा भूलने लगी है। खाना खाती हैं और भूल जाती हैं। और दोबारा चाय माँगती हैं। कुछ दवाइयों का असर होगा और कुछ बढ़ती उम्र का।

मैंने बचपन से ही माँ को बहुत ज्यादा पढ़ते हुए, अपने पढ़े गए को हम लोगों को बताते हुए देखा है। मुझे लगता है कि उन्हें बरसों पुरानी बातें और घटनाएँ अच्छी तरह याद रहती हैं। इन दिनों उनकी याद्दाश्त कमजोर ही नहीं, अराजक और भयावह होती जा रही है। कभी-कभार अपने गरसों पहले गुजर गए पति के जेल में होने, जेल में उन्हें सताए जाने की बात को वे देर-देर तक दुहाराती चली जाती हैं। इस घटना को बताते-बताते रोने लगती हैं। किसी भी तरह की दिलासा, उनके कोई काम नहीं आती है, ऐसे में, मैं उनके आने वाले दिनों को लेकर व्याकुल हो जाता हूँ। हमारे आने वाले दिन। इन गर्मियों के बाद के दिन... कैसे होंगे हमारे आने वाले दिन? क्या पैर ठीक हो जाने पर माँ फिर से पब्लिक लाइब्रेरी जाना शुरू करेगी? क्या वह अपने अधूरे उपन्यास को पूरा करने में जुटेगी?

माँ ने शायद अपनी चालीस साल की उम्र में लिखना शुरू किया था। स्कूल से लौटकर, पब्लिक लाइब्रेरी में पढ़ने के लिए वे जाती ही रही थीं और एक दिन वहीं उनका लिखना भी शुरू हो गया। कस्तूरबा लाइब्रेरी के ग्रंथपाल मेरे चाचा थे। माँ के पास वक्त भी रहता और अकेलापन भी। हम दोनों भाई कॉलेज की पढ़ाई कर रहे थे और ज्यादातर वक्त घर से बाहर रह रहे थे। ऐसे दिनों में ही गर्मियों के किसी अंक में माँ की एक कहानी छपी थी जिसमें एक बच्चा पेड़ के नीचे दुखी मन से बैठा रहता है। तभी एक देवदूत पेड़ से उतरता है। उसकी बच्चे से लंबी बातचीत होती है और देवदूत पेड़ के पिछले जन्म में घोड़े होने का किस्सा सुनाता है। ये मेरे वे दिन थे जब मैं बेताल पच्चीसी पढ़ रहा था।

उस रात मेरे यह बताने पर कि मैंने उनकी कहानी पढ़ी है, माँ बुरी तरह शरमा गई थीं, कहानी के बहुत ज्यादा कच्ची होने, उसे ठीक तरह से न लिख पाने, अपनी अधीरता और अज्ञान पर शोक व्यक्त करती रहीं थीं।

'वक्त काटने के लिए लिख लेना ठीक है पर मुझे छपाना नहीं था।'

'चाचा ने पढ़ी है?'

'उन्होंने ही भिजवाई थी... जिस दिन पत्रिका से रुपए आएँगे उस दिन अपने यहाँ खाने के लिए आएँगे।'

'अगर ठीक ठाक पैसे मिलते हैं तो मैं भी लिखूँगा।'

'लेकिन कहानी लिखना आसान बात नहीं है।'

'क्यों... इतने लोग लिखते हैं?'

'इससे लिखना आसान नहीं हो जाता... अपने लिखे हुए में कुछ गहरा और उपयोगी होना भी तो चाहिए।'

'इसके लिए क्या-क्या करना चाहिए।'

'मुझे नहीं पता... मैंने इस सबके बारे में थोड़ा-सा भी नही सोचा है... कुछ अच्छी किताबों को पढ़ती रही हूँ... बस...।'

माँ को पढ़ने का शौक पहले से ही रहा था। अपना कुछ न कुछ वक्त वह कस्तूरबा लाइब्रेरी में बिताती ही रही थीं। लाइब्रेरी की इमारत एक पब्लिक पार्क के बीचोबीच खड़ी थी। वहीं जिमखाना था और खेल का छोटा-सा मैदान। वहीं से पोस्ट ऑफिस की लाल इमारत दिखती थी और चौराहे पर खड़ी गाँधी जी की प्रतिमा। मेरे प्राइमरी स्कूल के दिनों में, हम दोनों भाई जिमखाने में होते और माँ लाइब्रेरी के रीडिंग रूम में। वह पिता के दूसरे शहर में नौकरी के दिन थे। उसी शहर से डाक में माँ के लिए पत्रिकाएँ, किताबें और चिट्ठियाँ आया करती थीं। माँ की चिट्ठियाँ पोस्ट करने के लिए मैं ही जाता रहा था। डाकघर की पहली ही खिड़की में बैठी हुई मिसेज पाटनकर माँ थी और उनके गाने को सुनने के लिए ही हम लोग कभी कभार कंसर्ट हाल में जाते रहे थे। तब हिंदुस्तानी शास्त्रीय गायन मुझे बिल्कुल भी नहीं भाता था। बाद के दिनों में कुछ माँ की मदद से, कुछ आकाशवाणी के कार्यक्रमों के जरिये, मेरा शास्त्रीय संगीत सुनने लगे। जब तक पिता जीवित रहे, वे हम तीनों को ही अच्छी किताबों, अच्छे संगीत से

जुड़ने के लिए प्रेरित करते रहे। ऐसा सब, यह सब, धीरे-धीरे होता रहा और कॉलेज तक आते-आते हम दोनो भाई, सेकंड हैंड पुस्तकों के लिए कालेज स्ट्रीट के फुटपाथों पर भटकने लगे। हम दोनों ही फिल्म सोसायटी के सदस्य बन गए और देश-विदेश की अच्छी फिल्में देखने लगे।

'हमारे संगीत में एक तरह का निरालापन है... एक किस्म की गहराइयाँ...'

कभी कभार पिता माँ को समझाते थे। गहराई का तो नहीं, निरालेपन का अहसास मुझे भी होता रहा है। कंसर्ट में जब कभी मिसेज पाटनकर को सुनता तो यह आश्चर्यजनक लगता कि उन्हें पोस्ट ऑफिस की खिड़की पर देखता रहा हूँ। वे हमारे घर की सीढ़ियों से उतरती रही हैं। पर गाते हुए वे कुछ और ही हो जातीं। बिल्कुल निराली। पूरी तरह रहस्यमय। अपने आपको छोड़ती हुई। मै अपने लिखने में उनकी तरह होना चाहता रहा था। उस आदमी से बिल्कुल दूसरा आदमी जो लिख रहा है। ऐसा कभी भी नहीं हो सका। मुझमें प्रतिभा का गहरा अभाव था। मैं परिश्रम से जी चुराता रहा। मैं बहुत जल्दी ही कुछ हासिल कर लेना चाहता रहा। मै सीढ़ियों से नहीं, लिफ्ट से पहुँचना चाहता रहा। पर हर जगह की तरह, इस जगह पर भी शॉर्टकट लेने के खतरे और नुकसान खड़े थे। फिर धीरे-धीरे मैं अपना धीरज भी खोने लगा। मेरे साथ जो-जो होता रहा था उसे किसी के साथ साझा करने का मन होता रहता। भाई अपने प्रेम में व्यस्त रहते और माँ अपनी किताबों, लाइब्रेरी, स्कूल और एक-दो सहेलियों से बनी दुनिया में। मेरा एक भी ऐसा दोस्त नहीं रहा जिसके साथ में अपनी भीतर की दुनिया की सैर कर पाता था। और इस तरह लिखना ही नहीं, लिखने के बारे में सोचता भी छूटता चला गया।

अब याद आता है कि जब लिख रहा होता था तब खुद को कम अकेला पाता था। मेरा खाली वक्त भरा-भरा सा होता और इन दिनों की तरह, गजब का खालीपन, अजीब सी दिशाहीनता मेरे साथ बनी नहीं रहती थी। उन दिनों में न कभी चुपके-चुपके अकेले में शराब पीने का मन हुआ और न रात के अखिरी शो में किसी घटिया और अश्लील फिल्म को देखने का। ऐसी फिल्मों के थियेटर के बाहर निकलकर हमेशा प्रण करता कि दुबारा इस तरह की फिल्म कभी नहीं देखूँगा। फिर कुछ दिनों के बाद मन में एक तरह का उचाट उतरता, एक किस्म की उदासी तैरने लगती। मेरे पैर शहर के उस टॉकीज की तरफ अपने आप बढ़ने लगते जहाँ दक्षिण में बन रही अश्लील फिल्मों का प्रदर्शन होता रहता था।

माँ को नहीं लेकिन बड़े भाई को इसका अनुमान होने लगा था कि मै कभी-कभार शराब पीने लगा हूँ। कभी-कभार देर रात तक यहाँ-वहाँ भटकने लगा हूँ। एक रात मैं ऐसी ही किसी फिल्म को देखकर लौटा था। फिल्म देखने की ग्लानि साथ थी। उसमें देखे गए को जीने और न जी पाने का द्वंद्व साथ था। मैं थका-थका-सा, टूटा-टूटा-सा अपनी बरसाती की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था और बाल्कनी पर भाई नजर आए। उन्होंने सिगरेट बुझा दी थी।

'कहाँ थे?' भाई ने पूछा

'रमन के घर गया था।'

'तुम झूठ बोल रहे हो।'

'उससे पूछ लो।'

'वह अभी-अभी यहाँ से गया है।'

मैं पकड़ा गया था। फिर बाल्कनी में ही भाई ने बहुत कुछ समझाया था। उनको लग रहा था कि मैं वेश्यालय से लौटा रहा हूँ। मेरे सच-सच बताने पर वे मुझे इन चीजों से बाहर निकलने, इन चीजों के खतरों के बारे में बताने लगे थे। मैं मन ही मन सोचता रहा था कि भाई मुझे तो हिदायतें दे रहे हैं किंतु खुद एक ईसाई लड़की के आसपास भटक रहे हैं और लड़की का ईसाई होना माँ को बेचैन कर रहा है। पर मैं उनको सुनता रहा था। उनको अपनी बीमारियों और बुराइयों को बताने का भी सुख था। कुछ तो मेरा था जिसे कोई बाँट रहा था। उन क्षणों में मैं खुद को कम असुरक्षित, कम अकेला पा रहा था। वह दो मनुष्यों के बीच का संवाद, एक हद तक मुझे कहानी लिखने के वक्त मिलती हुई तसल्ली-सी जान पड़ रहा था। वह दो मनुष्यों के बीच का संवाद था जिसका कोई भी पर्याय नहीं था।

किसी से कुछ कह पाना, किसी का हमें समझ पाना, किसी के सामने अपने आपको रख पाना, यही सब तो था जिसके लिए मैं प्रयत्न करता रहा था। शायद मेरा कहानी लिखने की तरफ बढ़ना भी किसी से कुछ कहने का साहस जुटाना ही था। अपने भीतर मैं जिस गाढ़े, अंतहीन और भयावह अँधेरे को महसूस किया करता था, वह दूसरों के पास जाने, दूसरों से जुड़ने से ही जाता रहा था।

इसीलिए रात की उस खामोश घड़ी मे, बड़े भाई का मेरे कंधे पर हाथ रखना, मुझे समझाना और सहलाना, मेरे लिए आत्मीय अनुभव ही रहा था। यह वही आत्मीयता

थी जिसकी मैं दिनोंदिन प्रतीक्षा किया करता था। बचपन में इस तरह आत्मीयता के लिए उतना तरसना भी नहीं पड़ा था जितना अब। मेरे जीवन के शुरुआत के अठारह बरस एक बड़े-से परिवार में एक बेहद आत्मीय पड़ोस में बीते थे जहाँ पर एक-दूसरे से सहज लगाव बना रहा करता था, अब जो पड़ोस था, वह भिन्न किस्म का था। हमारा परिवार भी व्यस्त बना रहता और पड़ोस भी। यह शहर का नया इलाका था। यहाँ आए लोगों की, यहाँ आते लोगों की जड़ें किसी दूसरे शहर में थीं। शहर के किसी दूसरे इलाके में थीं।

मेरी कुछ कहानियों में। बल्कि मेरी सभी दस-बारह कहानियों में, मेरे बचपन की बस्ती के लोग, चेहरे, मकान, पेड़, गलियों, चौराहे और जिंदगियाँ आती रही थीं। वहाँ की किसी गली का मोड़ याद आता और मेरे सामने साइकिल से लौटती किसी स्कूली बच्ची या उसी मोड़ पर खड़ी किसी बिल्ली का चेहरा आ जाता और वह बिल्ली, वह बच्ची मेरा हाथ पकड़कर मुझे कहानी की हर जगह पर ले जाती। कहानी में आते गड्ढों को पार कराती चली जाती थी। जैसे कहानी मैं नहीं, बिल्ली लिखा करती थी। बिल्ली लिख पाती तो कितनी दिलचस्प कहानियाँ बनी होतीं।

पर बाद में मैं खाली होता चला गया। मैं अपने पलंग पर लेटा हुआ, अपनी बस्ती के, अपने परिवार के उन बरसों के बारे में सोचता और मुझे कुछ भी ऐसा याद नहीं आता, जिसे मैंने पहले याद न किया हो, जहाँ कोई ठोस अनुभव खड़ा हो, जहाँ से कुछ गहरा निकल सकता हो, यह वही वक्त होता था जब मुझमें उस बस्ती में जाने, वहाँ पहले की ही तरह समय बिताने, वहाँ की गली-गली में भटकने, वहाँ के चौराहों पर खड़े होने, वहाँ के पेड़ों के नीचे खेलने का मन बनने लगता था। मैं यह सब कर भी लेता लेकिन मैं बातें किससे करता? वहाँ सब बड़े। हो रहे थे। वहाँ सब बदल रहा था। वहाँ के लोगों के तनाव कुछ दूसरे होने लगे थे और इसी तरह उन लोगों की तकलीफें भी कुछ और होने लगी थीं।

यहाँ आते ही एक तरह की चुप्पियों, एक तरह के सन्नाटे, एक किस्म के अकेलेपन ने मुझे घेरना शुरू कर दिया था। कहाँ तो पहले वक्त के बीतने का पता ही नहीं चल पाता था और अब वक्ट काटे नहीं कटता है। माँ से ही बातचीत हो पाती है और वह भी बहुत कम-कम। भाई के जाने के बाद से वे उदास होती चली गई हैं और खामोश भी। इधर बीमारी ने भी उन्हें कमजोर, उदास और निराश बनाना शुरू कर दिया हैं। दूसरों पर आश्रित होते चले जाना माँ को धीरे-धीरे, भीतर ही भीतर कुतरने लगा है... अपनी अट्ठाईस बरस की उम्र में मेरे साथ यह पहली बार हो रहा है कि मै हमेशा खुद को, अलग-थलग कटा-कटा-सा, महसूस करने लगा हूँ। किसी की भी मुझमें दिलचस्पी

नहीं बची है। मुझे कुछ भी दिलचस्प नहीं जान पडता है। रातों की अपनी लंबी-लंबी सैर तक, जिसने मुझे हमेशा ही तसल्ली दी है। कुछ दिनों पहले तक मैं रात की सैर पर शहर के एक जंगली, खुले-खुले और निर्जन इलाके में निकल जाता और कुछ ही देर में मेरी उदासी उड़ जाती, मेरी हताशा हारने लगती। मै हायकोर्ट के सामने की झाड़ियों के करीब के पुल पर बैठ जाता और आने वाले दिनों के उजियारे के बारे में सोचने लगता। पर अब ऐसा नहीं हो रहा है। उजाला कहीं से भी नहीं लौट रहा है। माँ का बीमार होते चले जाना, उनका बुढ़ापा और उनकी इधर की निष्क्रियता, उनका इधर का अकेलापन भी है जो मुझे दिनों दिन खाए जा रहा है।

माँ स्वस्थ बनी रहती, अपना जीवन जी रही होती तो मैं कहीं पढ़ाने के लिए निकल जाता। किसी अखबार में पार्ट-टाइम नौकरी कर लेता। पत्र-पत्रिकाओं के लिए फीचर लिखने के लिए यहाँ-वहाँ चला जाता लेकिन वे जिस तरह से बीमार हैं, जिस तरह के अकेलेपन और अवसाद को झेल रही हैं, उसमें मेरा बाहर निकलने की बात सोचना तक, उनके लिए भयावह अनुभव रहेगा। भाई घर लौटना चाह रहे हैं। भाई ने जिस दूसरी लड़की के साथ रहना शुरू किया था, उनसे उनकी निभ नहीं रही है। पर अब माँ नहीं चाह रही हैं कि वे इस घर में लौटें। माँ सोचती हैं कि भाभी चाहे तो लौट आए, इस घर में रहने लगे लेकिन भाई को यहाँ नहीं लौटना चाहिए। अपनी इस बात के लिए न कभी माँ ने अपनी कोई तर्क रखा और न ही मैने कभी उसके लिए बहुत ज्यादा आग्रह ही किया है।

माँ को लगता है कि थोड़ा सा स्वस्थ होते ही वे मेरे विवाह के लिए अपने प्रयत्न शुरू करेंगी। शायद इसलिए भी इस घर के इतिहास को दूर रखना चाह रही हैं। मुझसे माँ ने इतना ही जानना चाहा था कि कोई लड़की ऐसी तो नहीं है जिससे मैं शादी करना चाह रहा हूँ और मेरे नहीं कहने पर वे सिर्फ चुप रही थीं। मुझे अपने लाइब्रेरियन चाचा से पता चला है कि माँ यहाँ-वहाँ पत्र लिख रही हैं और चाचा भी इस काम में उनकी मदद कर रहे हैं।

कभी-कभी रात के किसी पड़ाव पर अपनी छत पर टहलते हुए, पास-पड़ोस के पेड़ों, झाड़ियों, अँधेरे और खाली जगहों को देखते हुए, मेरे मन में आता है कि जब मैं किसी लड़की के साथ रहने लगूँगा तब का मेरा जीवन कैसा होगा, कितना अलग होगा, क्या उसमें रात के इस हिस्से जैसी खामोशी, शांति और सुंदरता बनी रहेगी? क्या वह मेरे साथ रात की सैर पर निकलना चाहेगी और क्या उसकी भी पेड़ों, पक्षियों, तारों और किताबों में दिलचस्पी रहेगी? इस तरह के खयालों के बीचा मेरी निगाहें, पड़ोस की

किसी अँधेरी, उपेक्षित, ऊबड़-खाबड़ जगर पर ठहरती हैं और मैं डर जाता हूँ। मुझमें एक किस्म की घबराहट उतरती है।

बीच-बीच में मैं माँ से खाली-खाली, निर्जन, उपेक्षित और अलग-थलग पड़ गई, ऐसी जगहों के बारे में कहना चाहता हूँ लेकिन तभी मुझे याद आता है कि माँ के भीतर ऐसी कितनी ही जगहें बिखरी पड़ी हैं। माँ अपने भीतर एक किस्म का मरुस्थल लिए हुए जीती रही हैं। पिता जब गुजरे तब वे अड़तीस की थीं और न केवल देखने-दिखाने में ही ठीक-ठीक थीं बल्कि नौकरी कर रही थीं। पढ़े-लिखे लोगों के बीच उठती-बैठती रही थीं। शायद उन सभी लालसाओं से भरी हुईं भी, जिनके बीच कोई भी संवेदनशील, सजग आदमी होता है। मुझे नहीं लगता कि उनके मन में दुबारा किसी आदमी के साथ बसने का, उससे प्रेम करने का विचार आया ही नहीं होगा। जब-जब वैसा खयाल उनके भीतर उतरा होगा, तब-तब वे कितनी भयावह यातना से गुजरती रही होंगी, क्या मैं उनकी उन तकलीफों को कभी थोड़ा-सा भी जान सकूँगा? क्या मैं कभी भी कोई ऐसी कहानी लिख सकूँगा जिसमें माँ के भोगे गए का, माँ के सहे गए का थोड़ा-सा भी कुछ उतर पाएगा? माँ अपने बारे में लिख सकती हैं पर लिखना नहीं चाहतीं। कहती तो सिर्फ यह हैं कि सिर्फ अनुभवों से ही कोई कहानी खड़ी नहीं हो सकती है लेकिन बात कुछ दूसरी है। मामला कुछ और है। शायद मेरे लाइब्रेरियन चाचा ही ऐसे आदमी है जो माँ को जानते हैं समझते हैं। इसीलिए माँ उन पर इतना विश्वास करती हैं, अपनी हर पहल, अपने हर कदम में उन्हें शामिल करना चाहती हैं।

कभी कभार मुझे ऐसी कहानी लिखने की बहुत ज्यादा इच्छा होती है जिसमें लोग एक-दूसरे को समझ रहे हों, एक-दूसरे के जीने में मदद कर रहे हों। उसका हर पात्र जिंदगी को सजा रहा हो, समृद्ध कर रहा हो। पर ऐसी कहानी लिखना, कुछ कम नकली, कुछ ज्यादा ही सतही लिखने जैसा महसूस होता है। पर मुझे कभी ऐसी ही कोई हरी-भरी सी कहानी लिखने का प्रयत्न तो जरूर ही करना चाहिए। हो सकता है कि कहानी कुछ कम ही नाकाम बन पड़े। फिर एक कहानी में क्या नहीं हो सकता है? किसी कहानी में कितना कुछ हो सकता है और सौ बातों की एक बात तो यह है कि कहानी तो कहानी लिखने से ही बनेगी, न कि उसके बारे में सिर्फ सोचते चले जाने से। मैं कोई ऐसी कहानी लिखने के प्रयत्न की शुरुआत करूँगा।

आज की रात की सैर के वक्त, अपनी किसी आत्मीय सड़क से गुजरते हुए, मैं ऐसी किसी कहानी में आ रहे पात्रों के बारें में, उनकी उम्र, उनके इलाके, उनके परिवार और उनकी रुचियों के बारे में सोचना शुरू करूँगा। इस पर भी ध्यान लगाना चाहूँगा कि

कहानी में सिर्फ गर्मियों की रातों का जिक्र हो। गर्मियों की रातें, जो मुझे तसल्लियाँ देती रही हैं और ऐसा वक्त, जिसकी मैं प्रतीक्षा करता रहा हूँ।

बहुत पहले, गर्मियों की दुपहरों में ही मैं और भाई, विक्रम और बेताल के किस्सों सिंहासन बत्तीसी की जादुई दुनिया में और गर्मियों की रातों में रेल की पटरियों के पास होते आल्हा गायन के साथ हुआ करते थे।

पता नहीं अब अपनी प्रभावशाली आवाज में आल्हा गाने वाले अगरिया वाले बाबा कितने बूढ़े हो चुके होंगे, जीवित होंगे या नहीं होंगे?